'न्यायकुमुदचन्द्र' का प्राक्कथन

यदि श्रीमान् प्रेमीजी का अनुरोध न होता जिन्हें कि मैं अपने इने-गिने दिगम्बर मित्रों में सबसे अधिक उदार विचारवाले, साम्प्रदायिक होते हुए भी असाम्प्रदायिक दृष्टिवाले तथा सच्ची लगन से दिगम्बरीय साहित्य का उत्कर्ष चाहने वाले समझता हूँ, और यदि न्याय कुमुदचन्द्र के प्रकाशन के साथ थोड़ा भी मेरा संबन्ध न होता, तो मैं इस वक्त शायद ही कुछ लिखता।

दिगम्बर-परंपरा के साथ मेरा तीस वर्ष पहले अध्ययन के समय से ही संबन्ध शुरू हुआ, जो बाह्य-आभ्यन्तर दोनों दृष्टि से उत्तरोत्तर विस्तृत एवं घनिष्ठ होता गया है। इतने लम्बे परिचय में साहित्यिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से दिगम्बर परम्परा के संबन्ध में आदर एवं अति तटस्थता के साथ जहाँ तक हो सका मैंने कुछ अवलोकन एवं चिंतन किया है। मुझको दिगम्बरीय परम्परा की मध्यकालीन तथा उत्तरकालीन साहित्यिक प्रवृत्ति में एक विरोध नज़र आया। नमस्करणीय स्वामी समंतभद्र से लेकर वादिराज तक की साहित्यिक प्रवृत्ति देखिए—और इसके बाद की साहित्यिक प्रवृत्ति देखिए। दोनों का मिलान करने से अनेक विचार आते हैं। समंतभद्र, अकलङ्क आदि विद्वद्रूप आचार्य चाहे वनवासी रहे हों, या नगरवासी फिर भी उन सबों के साहित्य को देखकर एक बात निर्विवाद रूप से माननी पड़ती है कि उन सबों की साहित्यिक मनोवृत्ति बहुत ही उदार एवं संग्रहिणी रही। ऐसा न होता तो वे बौद्ध और ब्राह्मण परम्परा की सब दार्शनिक शाखाओं के सुलभ दुर्लभ साहित्य का न तो अध्ययन ही करते और न उसके तत्त्वों पर अनुकूल-प्रतिकूल समालोचना-योग्य गम्भीर चिन्तन करके अपना साहित्य समृद्धतर बना पाते। यह कल्पना करना निराधार नहीं कि उन समर्थ आचार्यों ने अपने त्याग व दिगम्बरत्व को कायम रखने की चेष्टा करते हुए भी अपने आस-पास ऐसे पुस्तक सं ह किये-कराये कि जिनमें अपने सम्प्रदाय के समग्र साहित्य के अलावा बौद्ध और ब्राह्मण परम्परा के महत्त्वपूर्ण छोटे-बड़े सभी ग्रंथों का संचय करने का भरसक प्रयत्न हुआ। वे ऐसे संचय मात्र से ही संतुष्ट नहीं रहते थे, पर उनके अध्ययन-अध्यापन कार्य को अपना जीवन क्रम बनाये हुए थे। इसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिना उनके उपलभ्य ग्रंथों में देखा जानेवाला विचार-वैशद्य व दार्शनिक पृथक्करण संभव नहीं हो सकता। वे उस विशालराशि तत्कालीन भारतीय साहित्य के चिंतन, मनन रूप दोहन में से नवनीत जैसी अपनी कृतियों को बिना बनाये भी संतुष्ट न होते थे। यह स्थिति मध्यकाल की रही। इसके बाद के समय में हम दूसरी ही मनोवृत्ति पाते हैं। करीब बारहवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक के दिगम्बरीय साहित्य की प्रवृत्ति देखने से जान पड़ता है कि इस युग में वह मनोवृत्ति बदल गई। अगर ऐसा न होता तो कोई कारण न था कि बारहवीं शताब्दी से लेकर अब तक जहाँ न्याय वेदान्त मीमांसा, अलंकार, व्याकरण आदि विषयक साहित्य का भारतवर्ष में इतना अधिक, इतना व्यापक और इतना सूक्ष्म विचार व विकास हुआ, वहाँ दिगम्बर परम्परा इससे बिलकुल अछूती सी रहती। श्रीहर्ष, गंगेश, पक्षधर, मधुसूदन, अप्पदीक्षित, जगन्नाथ आदि जैसे नवयुग प्रस्थापक ब्राह्मण विद्वानों के साहित्य से भरे हुए इस युग में दिगम्बर साहित्य का इससे बिलकुल अछूता रहना अपने पूर्वाचार्यों की मनोवृत्ति के विरुद्ध मनोवृत्ति का सबूत है। अगर वादिराज के बाद भी दिगम्बर परम्परा की साहित्यिक मनोवृत्ति पूर्ववत् रहती तो उसका साहित्य कुछ और ही होता। कारण कुछ भी हो पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि पिछले पण्डितों और भट्टारकों की मनोवृत्ति ही बदल गई और उसका प्रभाव सारी परम्परा पर पड़ा जो अब-तक स्पष्ट देखा जाता है और जिसके चिह्न उपलभ्य प्रायः सभी भण्डारों, वर्तमान पाठशालाओं की अध्ययन-अध्यापन प्रणाली और पण्डित मण्डली की विचार व कार्यशैली में देखे जाते हैं।

अभी तक मेरे देखने सुनने में ऐसा एक भी पुराना दिगंबर भण्डार या आधुनिक पुस्तकालय नहीं आया जिसमें बौद्ध, ब्राह्मण और श्वेतांबर परम्परा का समग्र साहित्य या अधिक महत्त्व का मुख्य साहित्य संगृहीत हो। मैंने दिगंबर परम्परा की एक भी ऐसी संस्था नहीं देखी या सुनी कि जिसमें समग्र दर्शनों का आमूल अध्ययन-चिंतन होता हो या उसके प्रकाशित किये हुए बहुमूल्य प्राचीन ग्रंथों का संस्करण या अनुवाद ऐसा कोई नहीं देखा जिससे यह विदित हो कि उसके सम्पादकों या अनुवादकों ने उतनी विशालता व तटस्थता से उन मूल ग्रन्थों के लेखकों की भाँति नहीं तो उनका शतांश या सहस्रांश भी श्रम किया हो।

एक तरफ से परंपरा में पाई जाने वाली उदात्त शास्त्र भक्ति, आर्थिक सहूलियत और बुद्धिशाली पंडितों की बड़ी तादाद के साथ जब आधुनिक युग के सुभीते का विचार करता हूँ, तथा दूसरी भारतवर्षीय परंपराओं की साहित्यिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपासना को देखता हूँ और दूसरी तरफ दिगम्बरीय साहित्य क्षेत्र का विचार करता हूँ तब कम से कम मुझको तो कोई संदेह ही नहीं रहता कि यह सब कुछ बदली हुई संकुचित या एकदेशीय मनोवृत्ति का ही परिणाम है।

मेरा यह भी चिरकाल से मनोरथ रहा है कि हो सके इतनी त्वरा से दिगम्बर परम्परा की यह मनोवृत्ति बदल जानी चाहिए। इसके बिना वह न तो अपना ऐतिहासिक व साहित्यिक पुराना अनुपम स्थान सँभाल लेगी और न वर्तमान युग में सबके साथ बराबरी का स्थान पा सकेगी। यह भी मेरा विश्वास है कि अगर यह मनोवृत्ति बदल जाए तो उस मध्यकालीन थोड़े, पर असाधारण महत्त्व के, ऐसे ग्रन्थ उसे विरासत में लभ्य हैं जिनके बल पर और जिनकी भूमिका के ऊपर उत्तरकालीन और वर्तमानयुगीन सारा मानसिक विकास इस वक्त भी बड़ी खूबी से समन्वित व संगृहीत किया जा सकता है।

इसी विश्वास ने मुझको दिगम्बरीय साहित्य के उपादेय उत्कर्ष के वास्ते कर्तव्य रूप से मुख्यतया तीन बातों की ओर विचार करने को बाधित किया है।

(१) समंतभद्र, अकलंक विद्यानंद आदि के ग्रन्थ इस ढंग से प्रकाशित किये जाएँ जिससे उन्हें पढ़नेवाले व्यापक दृष्टि पा सकें और जिनका अवलोकन तथा संग्रह दूसरी परंपरा के विद्वानों के वास्ते अनिवार्य सा हो जाए।

(२) आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन अष्टशती, न्यायविनिश्चय आदि ग्रन्थों के अनुवाद ऐसी मौलिकता के साथ तुलनात्मक व ऐतिहासिक पद्धति से किये जाएँ, जिससे यह विदित हो कि उन ग्रन्थकारों ने अपने समय तक की कितनी विद्याओं का परिशीलन किया था और किन-किन उपादानों के आधार पर उन्होंने अपनी कृतियाँ रचीं थीं—तथा उनकी कृतियों में सन्निष्ट विचार परंपराओं का आज तक कितना और किस तरह विकास हुआ है।

(३) उक्त दोनों बातों की पूर्ति का एकमात्र साधन जो सर्व संग्राही पुस्तकालयों का निर्माण, प्राचीन भाण्डारों की पूर्ण व व्यवस्थित खोज तथा आधुनिक पठनप्रणाली में आमूल परिवर्तन है, वह जल्दी से जल्दी करना।

मैंने यह पहले ही सोच रखा था कि अपनी ओर से बिना कुछ किये औरों को कहने का कोई विशेष अर्थ नहीं। इस दृष्टि से किसी समय आप्तमीमांसा का अनुवाद मैंने प्रारम्भ भी किया, जो पीछे रह गया। इस बीच में सन्मतितर्क के सम्पादन काल में कुछ अपूर्व दिगम्बरीय ग्रन्थ रत्न मिले, जिनमें से सिद्धिविनिश्चय टीका एक है। न्यायकुमुदचन्द्र की लिखित प्रति जो 'आ०' संकेत से प्रस्तुत संस्करण में उपयुक्त हुई है वह भी श्रीयुत प्रेमीजी के द्वारा मिली। जब मैंने उसे देखा तभी उसका विशिष्ट संस्करण निकालने की वृत्ति बलवती हो गई। उधर

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

प्रेमीजी का तकाजा था कि मदद मैं यथासंभव करूँगा पर इसका सन्मति जैसा संस्करण निकालो ही। इधर एक साथ अनेक बड़े काम जिम्मे न लेने की मनोवृत्ति। इस द्वंद में दस वर्ष बीत गए। मैंने इस बीच में दो बार प्रयत्न भी किये पर वे सफल न हुए। एक उद्देश्य मेरा यह रहा कि कुमुदचन्द्र जैसे दिगम्बरीय ग्रन्थों के संस्करण के समय योग्य दिगम्बर पंडितों को ही सहचारी बनाऊँ जिससे फिर उस परंपरा में भी स्वावलंबी चक्र चलता रहे। इस धारणा से अहमदाबाद में दो बार अलग-अलग से, दो दिगम्बर पंडितों को भी, शायद सन् १९२६–२७ के आसपास, मैंने बुलाया पर कामयाबी न हुई। वह प्रयत्न उस समय वहीं रहा, पर प्रेमीजी के तकाज़े और निजी संकल्प के वश उसका परिपाक उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया, जिसे मूर्त करने का अवसर १९३३ की जुलाई में काशी पहुँचते ही दिखाई दिया।

पं० कैलाशचन्द्रजी तो प्रथम से ही मेरे परिचित थे, पं० महेन्द्रकुमारजी का परिचय नया हुआ। मैंने देखा कि ये दोनों विद्वान् 'कुमुद' का कार्य करें तो उपयुक्त समय और सामग्री है। दोनों ने बड़े उत्साह से काम को अपनाया और उधर से प्रेमीजी ने कार्यसाधक आयोजन भी कर दिया, जिसके फलस्वरूप यह प्रथम भाग सबके सामने उपस्थित है।

इसे तैयार करने में पंडित महाशयों ने कितना और किस प्रकार का श्रम किया है उसे सभी अभिज्ञ अभ्यासी आप ही आप जान सकेंगे। अतएव मैं उस पर कुछ न कहकर सिर्फ प्रस्तुत भाग गत टिप्पणियों के विषय में कुछ कहना उपयुक्त समझता हूँ।

मेरी समझ में प्रस्तुत टिप्पणियाँ दो दृष्टि से की गई हैं। एक तो यह कि ग्रन्थकार ने जिस-जिस मुख्य और गौण मुद्दे पर जैनमत दर्शाते हुए अनुकूल या प्रतिकूल रूप से जैनेतर बौद्ध ब्राह्मण परम्पराओं के मतों का निर्देश व संग्रह किया है वे मत और उन मतों की पोषक परम्पराएँ उन्हीं के मूलभूत ग्रन्थों से बतलाई जाएँ ताकि अभ्यासी ग्रन्थकार की प्रामाणिकता जानने के अलावा यह भी सविस्तर जान सकें कि अमुक मत या उसकी पोषक परंपरा किन मूल ग्रंथों पर अवलंबित है और उसका असली भाव क्या है? इस जानकारी से अभ्यासशील विद्यार्थी-पंडित प्रभाचन्द्र वर्णित दर्शनान्तरीय समस्त संक्षिप्त मुद्दों को अत्यन्त स्पष्टता-पूर्वक समझ सकेंगे और अपना स्वतंत्र मत भी बाँध सकेंगे। दूसरी दृष्टि टिप्पणियों के विषय में यह रही है कि प्रत्येक मन्तव्य के तात्त्विक और साहित्यिक इतिहास की सामग्री उपस्थित की जाय जो तत्त्वज्ञ और ऐतिहासिक दोनों के संशोधन कार्य में आवश्यक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अगर प्रस्तुत भाग के अभ्यासी उक्त दोनों दृष्टियों से टिप्पणियों का उपयोग करेंगे तो वे टिप्पणियाँ सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर न्याय-प्रमाण ग्रन्थों के वास्ते एक सी कार्य साधक सिद्ध होंगी। इतना ही नहीं, बल्कि बौद्ध ब्राह्मण परम्परा के दार्शनिक साहित्य की अनेक ऐतिहासिक गुत्थियों को सुलझाने में भी काम देंगी।

उदाहरणार्थ—'धर्म' पर की टिप्पणियों को लीजिए। इससे यह विदित हो जाएगा कि ग्रंथकार ने जो जैन सम्मत धर्म के विविध स्वरूप बतलाये हैं उन सबके मूल आधार क्या-क्या हैं। इसके साथ-साथ यह भी मालूम पड़ जाएगा कि ग्रन्थकार ने धर्म के स्वरूप विषयक जिन अनेक मतान्तरों का निर्देश व खण्डन किया है वे हरएक मतान्तर किस-किस परम्परा के हैं और वे उस परम्परा के किन-किन ग्रन्थों में किस तरह प्रतिपादित हैं। यह सारी जानकारी एक संशोधक को भारतवर्षीय धर्म विषयक मन्तव्यों का आनखशिख इतिहास लिखने तथा उनकी पारस्परिक तुलना करने की महत्त्वपूर्ण प्रेरणा कर सकती है। यही बात अनेक छोटे-छोटे टिप्पणों के विषय में कही जा सकती है।

प्रस्तुत संस्करण से दिगम्बरीय साहित्य में नव प्रकाशन का जो मार्ग खुला होता है, वह आगे के साहित्य प्रकाशन में पथ-प्रदर्शक भी हो सकता है। राजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री आदि अनेक उत्कृष्टतर ग्रन्थों का जो अपकृष्टतर प्रकाशन हुआ है उसके स्थान में आगे कैसा होना चाहिए, इसका यह नमूना है जो माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला में दिगम्बर पंडितों के द्वारा ही तैयार होकर प्रसिद्ध हो रहा है।

ऐसे टिप्पणीपूर्ण ग्रन्थों के समुचित अध्ययन अध्यापन के साथ ही अनेक इष्ट परिवर्तन शुरू होंगे। अनेक विद्यार्थी व पंडित विविध साहित्य के परिचय के द्वारा सर्वसंग्राही पुस्तकालय निर्माण की प्रेरणा पा सकेंगे, अनेक विषयों के, अनेक ग्रन्थों को देखने की रुचि पैदा कर सकेंगे। अंत में महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थों के असाधारण योग्यतावाले अनुवादों की कमी भी उसी प्रेरणा से दूर होगी। संक्षेप में यों कहना चाहिए कि दिगम्बरीय साहित्य की विशिष्ट और महती आन्तरिक विभूति सर्वोपादेय बनाने का युग शुरू होगा।

टिप्पणियाँ और उन्हें जमाने का क्रम ठीक है फिर भी कहीं-कहीं ऐसी बात आ गई है जो तटस्थ विद्वानों को अखर सकती है। उदाहरणार्थ—'प्रमाण' पर के अवतरण संग्रह को लीजिए इसके शुरू में लिख तो यह दिया गया है कि कम-विकसित प्रमाण-लक्षण इस प्रकार हैं। पर फिर उन प्रमाण-लक्षणों का क्रम जमाते समय क्रमविकास और ऐतिहासिकता भुला दी गई है। तटस्थ विचारक को ऐसा देखकर यह कल्पना हो जाने का संभव है कि जब अवतरणों का संग्रह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्प्रदायवार जमाना इष्ट था तब क्रमविकास शब्द के प्रयोग की क्या जरूरत थी ?

ऊपर की सूचना मैं इसलिये करता हूँ कि आयंदा अगर ऐतिहासिक दृष्टि से और क्रमविकास दृष्टि से कुछ भी निरूपण करना हो तो उसके महत्त्व की ओर विशेष ख्याल रहे। परंतु ऐसी मामूली और अगण्य कमी के कारण प्रस्तुत टिप्पणियों का महत्त्व कम नहीं होता।

अंत में दिगम्बर परंपरा के सभी निष्णात और उदार पंडितों से मेरा नम्र निवेदन है कि वे अब विशिष्ट शास्त्रीय अध्यवसाय में लगकर सर्वसंग्राह्य, हिंदी अनुवादों की बड़ी भारी कमी को जल्दी से जल्दी दूर करने में लग जाएँ और प्रस्तुत कुमुदचन्द्र को भी भुला देने वाले अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का संस्करण तैयार करें।

विद्याप्रिय और शास्त्रभक्त दिगंबर धनिकों से मेरा अनुरोध है कि वे ऐसे कार्यों में पंडित-मंडली को अधिक से अधिक सहयोग दें।

न्याय कुमुदचन्द्र के छपे ४०२ पेज, अर्थात् मूल मात्र पहला भाग मेरे सामने है। केवल उसी को देखकर मैंने अपने विचार लिखे हैं। यद्यपि जैन परम्परा के स्थानकवासी और श्वेताम्बर फिरकों के साहित्य तथा तद्विषयक मनोवृत्ति के चढ़ाव-उतार के संबंध में भी कुछ कहने योग्य है। इसी तरह ब्राह्मण परम्परा की साहित्य विषयक मनोवृत्ति के जुदे-जुदे रूप भी जानने योग्य हैं। फिर भी मैंने यहाँ सिर्फ दिगम्बर परम्परा को ही लक्ष्य में रखकर लिखा है। क्योंकि यहाँ वही प्रस्तुत है और ऐसे संक्षिप्त प्राक्कथन में अधिक चर्चा की कोई गुंजाइश भी नहीं।

ई० १९३८] [न्यायकुमुदचन्द्र का प्राक्कथन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org